

## एक टक कूबेनहावन

ओम थानवी

रात भर में दुनिया बदल गई थी। सोए तब खिड़की के पार मटमैला आलम था। थोड़ी-थोड़ी हरियाली। उठे तो आंखें चौंधिया गईं। बाहर सब कुछ सफेद था। रात में बर्फ गिरी थी। फाहे अब भी हवा में तैर रहे थे। बिजली से अनुकूलित दीवारों के घेरे में पता कहां चलता है कि सोने-जागने के बीच क्या कुछ हो चला !

कोपेनहेगन पहुंचे तब ठंड बहुत थी। पर बर्फ नहीं थी। बर्फबारी ने शहर की रंगत बदल दी। एक बार तो लगा जैसे सब कुछ ठहर गया है। हर चीज को बर्फ ने ढांप लिया था। धरती सफेद थी। सड़क का नक्शा बदल चुका था। बर्फ छतों तक पर जा बैठी थी। हरे पेड़ों की जगह सफेद पेड़ों की कतार थी और हर वाहन पर मानो कोई बर्फ की खोली चढ़ा गया था।

बर्फबारी को इस तरह देखने का मेरा यह पहला अनुभव था। इससे पहले कई दफा जाड़ों में यूरोप जाना हुआ। पर बर्फ से सामना नहीं हुआ।

हमारे यहां बर्फ सिर्फ पहाड़ी इलाकों में गिरती है। गुलमर्ग में खूब बर्फ देखी। पर बर्फबारी फिर भी नहीं। चंडीगढ़ के दिनों में जाने कितनी बार दिसंबर के अंत में सिर्फ बर्फबारी के लिए शिमला में डेरा डाला। बस इंतजार करते रहे। जैसे किसी अभयारण्य में शेर की एक झलक पाने का करते हैं। हर बार हताश होकर चंडीगढ़ लौट आए। सुनने के लिए कि हमारे पीछे बर्फ आ गिरी है !

एक दफा (मिश्र) अनुपम जी के साथ शिमला कूच किया। रास्ते में खबर मिली, आगे बर्फ गिर रही है। इसी से इतना रोमांच हुआ कि मोटर की रफ्तार दुगुनी कर दी। पर शिमला की दहलीज पर पहुंचने से पहले इतनी बर्फ गिर चुकी थी कि चढ़ाई पर हर गाड़ी रपट रही थी। शिमला जाने का रास्ता बंद हो गया। उलटे पांव शोधी से गाड़ी किसी तरह चंडीगढ़ लौटा लाए।

बहरहाल, आप जानते हैं, यूरोप के उस छोर बर्फबारी देखने तो नहीं गया था। लेकिन संयुक्त राष्ट्रसंघ के सम्मेलन की गर्मागर्मी के बीच मैदानी कोपेनहेगन में बर्फबारी का वह अनुभव एक रेगिस्तान वासी के लिए निराला था। हालांकि राजस्थान से उस जगह की तुलना नहीं की जा सकती। सर्दी और गर्मी ही नहीं, यहां से वहां हर तरह के फासले हैं। मगर फिर भी रेत और बर्फ में कई चीजें बरबस नजदीक जान पड़ीं।

रेत भी कुछ इसी तरह बरसती है। कभी हलकी, कभी तेज; कभी अंधड़ और कभी तूफान की मानिंद। हवा ठहरी हो तो रेगिस्तान में आसमान बहुत चटक होता है। रात इतनी काली कि तारे गिन लें। पर आंधी चले तो थोड़ी देर में हर चीज रेत में नहा जाती है। आसमान भी। अनुकूलित वायु वाले घर नहीं होते, सो दरो-दीवारों से लेकर नाक-कान-जिह्वा-पलक सब जगह रेत जा बसती है। सुबह उठें तो घर के बाहर रेत का टीबा रास्ता रोके मिल सकता है। गर्मियों में सड़क पर जमा हो गई रेत उठवाने के लिए सरकार खास बंदोबस्त करती है। बड़े वाहनों में मिट्टी हटाने वाले फावड़े-बेलचे टंगे रहते हैं।

कुछ ऐसा ही रंग कोपेनहेगन में बर्फ का दीखा। बर्फबारी थमी नहीं कि सड़क पर ट्रैक्टर बर्फ हटा रहे हैं, घरों में लोग। कार के पहियों के लिए बेलचे से सड़क तक रास्ता बना रहे हैं। सड़क के बाजू में बनी पगडंडियों पर नमक छिड़क रहे हैं, ताकि बर्फ जमे नहीं और पैदल आमदरफ्त मुमकिन हो।

बड़ों की आफत, बच्चों का खेल। रेत के ढूह में जैसे बच्चे थप-थपा कर घर बना लेते हैं, वही मस्ती बर्फ के बीच दिखाई दी। बर्फबारी में चलते हुए भी राजस्थान की रेत का खयाल आया। यहां बर्फबारी में ठीक वही मुश्किल पेश आती है। कोट पर बर्फ के फाहे जमा होते देख परेशानी हुई। किसी ने कहा, इनमें पानी नहीं है, बस झटकते रहिए। जैसे हम रेगिस्तान में रेत झटक लेते हैं। जो कपड़ों पर बैठ जाती है, पर टिकती नहीं है।

दो-दो फुट फूली बर्फ पर चलना और भी टेढ़ा काम है। किसी ने आगाह किया- जनाब, ताजा गिरी बर्फ वाले हिस्से पर कदम रखिए। पर ताजा बर्फ में धंसे कदमों को वापस उठाना आसान काम नहीं है। रेत के टीबों पर चलने की तरह। सबसे बड़ी जोखिम तब, जब खुदा न ख्वास्ता जमी बर्फ पर पांव अचानक तेजी से फिसल जाए। सीधे हड्डी टूट सकती है। सोचकर ही सिहरन हुई। परदेस में तो बुखार तक का इलाज सस्ता नहीं। हर कदम फूंक-फूंक कर रखता, जैसे चांद पर चल रहे हों!

तब अपनी रेत भली लगी। चाहे ऊंट की पीठ से आ गिरें, चोट तो नहीं लगेगी! हमारी रेत आतंकित भी नहीं करती। काली-पीली आंधी आती है, थोड़ा शोर मचाकर चली जाती है। बर्फबारी तो बुरे मौसम का पैगाम है। उससे जूझने के लिए भारी कपड़ों-जूतों के जिरहबख्तर के साथ पता नहीं कितना और तामझाम चाहिए।

फिर हमारी रेत के रंग में जान बहुत है। बर्फ का सफेद इतना सफेद है कि नीरस है। एक बार सुहाता है, बार-बार नहीं। धुर सफेदी जताने के लिए अंग्रेजी में 'सुनो' जोड़ना पड़ता है- सुनोवाइट! पर बर्फ-सी सफेदी कपड़े धोने वाले पाउडर या ड्राइक्लीन करने वाली दुकानों के नाम में ही ज्यादा शोभा देती है।

रंग न सही, बर्फ ने अंग्रेजी, डेनिश आदि यूरोपीय भाषाओं को बेहतर शब्दावली जरूर दी है। अब तक अक्सर मिसाल देता था हिंदी में पानी और जल पर्यायवाची हैं, फिर भी भिन्न अर्थ वाले शब्द हैं; गंदे नाले के पानी को हम जल नहीं कह सकते। जबकि अंग्रेजी में दोनों के लिए एक शब्द 'वाटर' ही है। पर बर्फबारी में लक्ष्य हुआ

कि फाहों वाली 'सुनो' और जमने वाली 'आइस' के लिए हिंदी में एक ही प्रयोग है- संस्कृत से मिला हिम या फारसी मूल का बर्फ! जबकि, मजा देखिए, हिमालय हमारा निगहबान है। धौलाधार जैसी पर्वत-शृंखलाएं हमारे यहां हैं। पश्चिम के पास तो छोटे-मोटे हिमशिखर हैं।

मेरे लिए कुतूहल का सबब बनी कोपेनहेगन की बर्फबारी शहर में चल रहे जलवायु संकट के सम्मेलन में गंभीर मंत्रणा का मुद्दा थी। दरअसल, शिमला-कश्मीर ही नहीं, दुनियाभर में यह साबित हुआ है कि अब वक्त पर पर्याप्त बर्फ नहीं गिरती, नतीजतन पानी का स्तर घट रहा है, फसलों पर उसका सीधा असर पड़ रहा है। बढ़ते तापमान की वजह से पहाड़ों पर जमी बर्फ पिघल रही है। इससे समुद्र में पानी बढ़ रहा है। नीची सतह वाले इलाकों में और बाढ़ आएगी, जिसके शिकार जमीन, खेती, लोग और जीव-जंतु सब होंगे।

कोपेनहेगन सम्मेलन पर्यावरण का विराट मेला था। दुनिया जहान के शासक वहां बिगड़ते पर्यावरण से उबरने की आस लिए पहुंचे थे। लेकिन अमेरिका और दूसरे अमीर देशों ने पवित्र नहान को गंदला कर दिया। दुर्भाग्य यह रहा कि भारत भी इसमें शरीक हो गया, तीन अन्य देशों- चीन, ब्राजील और दक्षिण अफ्रीका- वाले नए गठजोड़ के साथ। और अपनी समृद्धि- बल्कि विलास- के लिए बेहिसाब जहरीली गैसों छोड़कर दुनिया के पर्यावरण को ज्यादा बरबाद करने वाले विकसित देशों पर नकेल डालने के लिए बना क्योटो कानून खटाई में पड़ गया।

अमेरिका ने एक समझौते का मसविदा कोपेनहेगन में चलाया। क्या मंजर था कि क्योटो करार से बारह साल भागता रहा अमेरिका सहसा कोपेनहेगन में शहसवार बन गया। दूसरी दुनिया में जिनकी वकत है, उन पर उसने असरदार दबाव डाला। दुनिया में विकसित और विकासशील देशों का वर्गीकरण नए समीकरण में बिलकुल अप्रासंगिक हो गया। भारत और उसके तीन नए साथियों (!) ने विकासशील खेमे को पीठ दिखाकर विकसित गुट की अंगुली पकड़ ली। मेरी समझ में गरीब और विकासमान देशों के बीच इससे हमारा भरोसा उठ गया। अब हमारे प्रधानमंत्री कह रहे हैं कि कोपेनहेगन सम्मेलन 'आंशिक' रूप से 'सफल' रहा। विफलता को विशेषण लगाकर बदला नहीं जा सकता। हकीकत यह है कि मैक्सिको में साल के अंत में बर्फ-पानी-वन-धुएं पर नए सिरे से नए कायदों पर विचार होगा।

कोपेनहेगन गैर-सरकारी संगठनों के एक समूह के साथ जाना हुआ। उन्हीं के साथ रहा। पूरे सम्मेलन में कम लोग थे, जो पर्यावरण के पहले कुंभ- रियो द जनीरो के 'पृथ्वी सम्मेलन'- में भी मौजूद थे। टीवी वाले उन्हें ढूंढते थे और तब-और-अब जैसी तुलना के लिए इंटरव्यू करते थे। वे मुझ पर भी मेहरबान हुए। दिलचस्प नजारा ही था कि एक पत्रकार दूसरे पत्रकार को इंटरव्यू कर रहा है!

अगर इसे बड़बोल न समझें तो बता दूं कि ऐसा सौभाग्य मुझे बाईस साल पहले भी मिला था! दिवंगत अनिल अग्रवाल के कहने पर राजस्थान के पारंपरिक जलस्रोतों पर कुछ काम किया था। दिल्ली में छोटे से काम का भी बड़ा हल्ला मचता है। सरकारी और गैर-सरकारी दोनों हलकों में कुएं-बावड़ियों को लेकर बड़ी जिज्ञासा जागी।

उषा राय बीकानेर आईं। जलस्रोतों की उस पड़ताल पर बात मुझसे करने। वह लंबी बातचीत टाइम्स ऑफ इंडिया में पहले पेज पर छपी। बाद में अलग स्वरूप में उषा जी ने उसे पेनोस की फीचर सेवा से भी जारी करवाया।

फिर अनिल भाई ने कहा, जलस्रोतों पर एक परचा तैयार करो। किया। पढ़ भी दिया। पर यह तय करते हुए कि यह अब ज्यादा हो गया। तब अनुपमजी सामने थे। बोले, इस पर एक किताब लिखो। किताब की एक सुंदर-सी डमी उन्होंने हाथ से तैयार कर मुझे चंडीगढ़ भिजवा दी। उन्होंने कहा, उनका बड़प्पन। डमी मैंने अलमारी में रख दी और पानी-पुराण मेरे तई खत्म!

वाकई खत्म? कोपेनहेगन ने अहसास कराया कि पानी और पर्यावरण के दूसरे पहलुओं के बारे में दिलचस्पी अब भी बची हुई है। कम से कम इतनी जरूर कि कोपेनहेगन सम्मेलन की चर्चाओं के चलते शहर भी ठीक से नहीं देख पाया। दस दिन रहने के बावजूद। हालांकि सर्दियों में दिन भी वहां कितना दिन होता है! ठीक-ठाक उजाले के कुल जमा तीन घंटे!

अंगरेजों ने दुनिया पर राज किया। जहां नहीं किया, अंगरेजी की घुसपैठ हो गई। डेल्ही-कैलकटा ही नहीं, पेरिस, रोम, मास्को, प्राग हर तरफ भ्रष्ट अंगरेजी उच्चारणों का बोलबाला है। 'कोपेनहेगन' में भी। डेनमार्क वाले उसे 'कूबेनहावन' बोलते हैं। हावन माने बंदरगाह।

इतना ही नहीं, डेनमार्क के 'डेन' की वर्तनी वहां डी-ए-एन है। अंगरेजी में वह डी-इ-एन हो गई। किसी अंगरेज के टंकण में कभी एक अक्षर फिसल गया होगा। जैसे बटिंडा में 'एच' इधर से उधर हो गया तो सारी दुनिया के लिए बटिंडा भटिंडा हो गया। कहीं फ्रांसीसी इसीलिए तो अंगरेजी से घृणा नहीं करते?

पर नाम में क्या रखा है! डेनमार्क के लोग भले हैं। उनमें कोई अहंकार नहीं है, न झीना स्वाभिमान। जैसे उनका मंतर ही हो आता है आने दो अपना है; जाता है जाने दो सपना है! शहर में हर जगह अपनी भाषा है। कोई नामपट्ट, दिशा-निर्देश अंगरेजी में नहीं है। हवाई अड्डे या स्टेशन जैसी जगहों पर मुसाफिरों की मदद के लिए जरूरी जानकारी अंगरेजी में भी मिल जाती है। मगर अपवादस्वरूप।

जबकि लोग अंगरेजी जानते खूब हैं। अंगरेजी की पढ़ाई वहां अनिवार्य नहीं है, पर पांचवीं कक्षा से बच्चे उसे पढ़ लेते हैं। किसी 'डेन' से रास्ता समझने में आपको दिक्कत पेश आए, अंगरेजी जानने वाला कोई दूसरा शख्स आपकी मदद करने को आप रुक जाएगा। एक बार तो ऐसे किसी भले मानुष को मैंने एक शब्द के पीछे दस मिनट उलझाए रखा। बस में हर दूसरे ठहराव पर आवाज सुनता था, फलां-फलां 'वाय'। जानना चाहता था, यह वाय (लिखने में 'वेज', यानी गली) क्या बला है। मेरे उच्चारण से उसने समझा, मैं अंगरेजी शब्द 'वाय' बोल रहा हूं। इससे कोई ठीक सवाल बनता नहीं था और वह और परेशान कि मेरी मदद नहीं कर पा रहा है!

स्कैंडिनेविया यानी उत्तरी यूरोप में डेनमार्क सबसे छोटा देश है। पर कोपेनहेगन स्कैंडिनेवी शहरों में सबसे बड़ा। कोई तेरह लाख की आबादी है। बंदरगाह से जुड़ी कई नहरें हैं, जो शहर के बीच से गुजरती हैं। साफ-सुथरी सड़कें हैं। पेड़ कम हैं, पर सड़कें चौड़ी हैं। शोर नहीं है। न धुआं।

सड़कों पर तार भी कम नजर आते हैं। यहां तक कि चार डिब्बों वाली बेहद दुरुस्त मेट्रो की छत पर भी कोई तार नहीं दीखता। दरअसल, वह दाईं तरफ समांतर बिछे मोटे तार से सटकर चलती है। स्वचालित है। चालक की जगह मुसाफिर बैठते हैं। दिल्ली की मेट्रो भी स्वचालित है। पर उसमें चालक रहता है। शायद आपातकाल के लिए। चालक न हो तो डर के मारे लोग शायद बैठें ही नहीं !

डेनमार्क भव्य पवनचक्कियों के लिए मशहूर है। पर कोपेनहेगन की खूबी है कि वहां ऊंची इमारतें नहीं हैं। बड़ी भी ज्यादा नहीं। प्रशासन सजग न हो तो किसी राजधानी में बहुमंजिली, विशाल और भोंडी इमारतों की कतार खड़ी होने में देर नहीं लगती। कोपेनहेगन में रानी का महल बड़ा है। या सिटी सेंटर का हॉल। वरना घर छोटे ही हैं। सत्रहवीं सदी के घर, जिनकी सार-संभाल बेहतर है। या तल्ला-दर-तल्ला बने डिब्बेनुमा नए अपार्टमेंट। सारे गाढ़े रंगों में पुते हुए। बीहड़ पीला, नारंगी, नीला, हरा। या बैंगनी। सर्द हवाओं में गहरे रंग सुकून देते हैं। खुद रंगों में जैसे खुरदुरी आंच हो।

डेन लोग स्वभाव में भले हैं। शांत प्रकृति के। उन्हें खुलने में देर लगती है। आप न बतियाएं तो उन्हें आपकी तरफ देखने, घूरने या दूसरे परदेसियों की तरह शिष्टाचार में फीके मुस्कराते रहने का कोई शौक नहीं। हाथ भी बहुत गर्मजोशी से नहीं मिलते। पर आंखों में अपनापन है, जिसे आप कनखियों में ताड़ सकते हैं। मैंने पहले भी लक्ष्य किया है कि हम पक्के रंग वाले एशियाई लोगों को देखकर स्कैंडिनेवी लोग छड़क नहीं खाते। वरना क्या यूरोप और क्या अमेरिका, आपको कहीं-न-कहीं हिकारत भरा भेदभाव देखने को मिल ही जाता है। कई दफा सोचा कि कोपेनहेगन के उस कार्टूनिस्ट ने कैसे वह सांप्रदायिक विद्वेष से भरा कार्टून बनाया होगा !

अपराध यहां बहुत कम होते हैं। देर रात आते-जाते जेहन में अहसास तक नहीं आता कि आप सुरक्षित हैं या नहीं। अरुण माहेश्वरी (कामरेड) कुछ साल पहले कोपेनहेगन गए थे। उन्होंने बताया कि तब लोग वहां दुकानों में ताले ही नहीं लगाते थे। मुझे सुनकर हैरानी नहीं हुई। डेनमार्क जाने से पहले बताते तो शायद होती।

डेनमार्क में भ्रष्टाचार भी कम है। या कहें, ईमानदारी बहुत है। कहा जाता है, दुनिया में सबसे ज्यादा। इसका एक सुखद अनुभव मुझे भी हुआ। तड़के चार बजे हवाई अड्डे पहुंचा। टैक्सी वाले से पूछ लिया था कि कितना भाड़ा होगा। उसने कहा कि मीटर पर निर्भर है, पर अंदाजन ढाई सौ क्रोनर (ढाई हजार रुपए)। मैंने बताया, मीटर ज्यादा बोला तो आपको बाकी राशि के लिए यूरो लेने पड़ेंगे। वह राजी था। मैं रास्ते में सोचता रहा, पता नहीं कितने यूरो और देने होंगे। हवाई अड्डे पहुंच उसने बटन दबाकर मीटर देखा, मेरा सामान उतारा और बोला- दो सौ

पच्चीस। मैंने सांस ली और ढाई सौ क्रोनर उसकी हथेली पर रख दिए- बाकी आपके। डेनमार्क में टिप का कायदा नहीं है। उसने कुछ झुक कर कहा- टक!

‘टक’ यानी धन्यवाद। आभार जताने के लिए इससे छोटा शब्द पता नहीं और कहां होगा।

घर लौटने की घड़ी करीब आई तो सलाह ली कि थोड़े वक्त में क्या-क्या देख सकता हूं। हालांकि इतने बड़े शहर में कुतुब मीनार या आइफल टावर जैसे प्रसिद्ध स्मारक नहीं हैं। फिर भी हर कोई कहता था, सबसे पहले टिवली बाग देखिए।

बस ने ठेठ सिटी सेंटर जा उतारा। बर्फबारी बंद थी, पर ठंड इतनी थी कि मन करता था वापस बस में जा बैठें। वहां क्या हाल होता होगा, जहां तापमान शून्य से तीस डिग्री नीचे जा पहुंचता है! ऐसा नहीं कि गर्म कपड़े बदलने पर कम थे। पर उस हड्डियां गला देने वाली ठंड से जान बचाने के लिए कश्मीर की कांगड़ी जैसा सतत ताप चाहिए। टोपी-दस्ताने तक पहन रखे थे। वे थे, पर नहीं थे। हारकर चौराहे की एक दुकान में ऊनी कपड़े टंगे देख घुस गया। उलटे पांव लौट आया। चमड़े के जानदार दस्ताने की कीमत थी बारह सौ क्रोनर। एक क्रोनर हुआ दस रुपए का। टोपी की कीमत तक नहीं पूछ पाया। उसका अंदाजा बाहर लगाएंगे। मन में सोचा।

अनुभव किया कि जिन देशों की यात्रा अब तक की है, उनमें डेनमार्ग सबसे महंगा है। इंग्लैंड दूसरे नंबर पर ठहरेगा। दरअसल, डेनमार्क में कर-विधान व्यापक है। एक पाकिस्तानी भाई ने- जो वहां बरसों से सब्जी-फल की दुकान चलाता है- मुझे समझाया कि किस तरह हर चीज की बिक्री में साठ फीसद हिस्सा सरकार को जाता है। भारत से ही आयात होने वाले दस्ताने में भाड़ा, मुनाफा, कर, किराया वगैरह जोड़कर उसने कीमत लगभग वहीं पहुंचा दी, जो पर्ची पर लिखी थी।

दरअसल, चीजें हमें ज्यादा महंगी लगती हैं क्योंकि रुपए को विदेशी मुद्रा में बदलवा कर लाते हैं। दाम पूछते हैं, उसी घड़ी रुपए में गणना करते हैं। और आगे बढ़ जाते हैं। वहां के निवासियों को चीजें उस तरह महंगी नहीं लगती क्योंकि उनकी आमदनी ज्यादा है। इसीलिए विकसित देश कहते हैं। डेनमार्क में एक दिन की दिहाड़ी हजार क्रोनर से कम नहीं होती। यानी दस हजार रुपए। न्यूनतम मजदूरी सौ क्रोनर प्रति घंटा है। औसत आमदनी पचास हजार क्रोनर महीना। हालांकि इसमें आधी आय आयकर को देनी होती है। इसीलिए उनके खर्चे भी भारी हैं। सारे दास उसी तर्ज पर ऊंचे होते जाते हैं। मेट्रो में बैठें तो न्यूनतम भाड़ा सत्रह क्रोनर। सिनेमा जाएं- पांच सौ क्रोनर!

महंगाई का एक अनुभव दिल्ली लौटने के बाद भी हुआ, जब कोपेनहेगन प्रवास में बरते गए फोन का बिल मिला। अट्ठाइस हजार रुपए। तब जब, तीन रोज फोन खराब रहा। विजय प्रताप तो वहां एक स्थानीय फोन भी रखते थे। फिर भी देश का फोन इस्तेमाल करने का उनका बिल बना सत्ताईस हजार रुपए!

बहरहाल, मैं कुछ ठंड से, कुछ गंदलाई बर्फ के कारण भारी कदमों से मुख्य रेलवे स्टेशन की तरफ बढ़ा, जिसके पास टिवली बाग है। सुंदर प्रवेश द्वार, महंगा टिकट, पर भीतर दर्शन फीके। कहने भर को बाग है। दरहकीकत मनोरंजन केंद्र का अड्डा है। आजकल जिन्हें एम्युजमेंट या थीम पार्क कहा जाता है। बड़े-बड़े झूले, खुले मंच, नाच-गान, उचल-कूद, बच्चों को हंसाने वाले बहुरूपिए। इन्हीं के गिर्द कोई झील। फव्वारे। करीने से खड़े पेड़ और सजी हुई फूलों की क्यारियां। सब कुछ बनावटी। जैसे चिकनाई भरी कैलेंडर की खूबसूरती हो।

बाग में दाखिल होने का महंगा टिकट अपनी जगह, वहां अंदर भी हर जगह का पैसा है। खेल, झूले, तमाशे, संगीत, नौका-विहार के लिए बच्चों-बड़ों की कतार लगती है। इसी से अंदाजा लगता है कि पूंजी में पगे आधुनिक जीवन में कितनी ऊब है। उससे उबरने के लिए वे नित नए तरीके ढूंढते हैं, गढ़ते हैं। मैंने देखा, 'बाग' में एक नकली ऊंट भी है। पैसा देकर उस पर चढ़ने और फोटो खिंचवाने की अजीब होड़ मची थी!

कभी लास एंजलिस का डिज्नीलैंड भी देखा है। वह भी धनपगलाए, ऊबे हुए दुखी लोगों का निपट मनोरंजन है। लेकिन उसके निर्माण में कल्पनाशीलता ज्यादा है। हालांकि दावा किया जाता है कि डिज्नीलैंड की प्रेरणा वाल्ट डिज्नी को इस टिवली-पार्क से ही मिली थी।

शांत और साफ कोपेनहेगन को देख एक दफा लगता है कि विकसित देशों वाला प्रदूषण यहां नहीं है। वह फौरन नहीं दिखता। पर थोड़ा आगे बढ़ें तो कदम-कदम पर विकास की नेमतें हावी दिखाई देंगी। मसलन टिवली पार्क में देखा कि चीनी वास्तुशिल्प में निर्मित 'चाइनीज गार्डन' में खूब रोशनी होती है। दोपहर बाद से, क्योंकि जाड़ों में शाम जल्दी ढलती है। इस रोशनी के लिए हरदम एक लाख दस हजार बल्ब जलाए जाते हैं। जैसे यह रोशनी भी ऊब के अंधेरे को मिटाने के लिए काफी न हो, हफ्ते में तीन बार धुआंधार आतिशबाजी भी होती है।

जलवायु सम्मेलन में शाकाहार की बात उठी थी। आधुनिक बूचड़खाने जहरीली गैसों से वातावरण प्रदूषित करते हैं, ऐसा वहां कई बार कहा गया। सम्मेलन में शाकाहारी भोजन परोसा गया, खाने वालों को तमगे भी बांटे गए। और यहां सम्मेलन के बाहर, कोपेनहेगन के सबसे बड़े ठिकाने टिवली में, मैं किसी शाकाहारी चीज के सेवन के लिए व्याकुल था। अकेले टिवली के घेरे में इक्कीस रेस्तरां और बीस कैफेटेरिया हैं। एक-एक से पूछते मेरा धीरज चुकने लगा। किसी में कोई चीज शाकाहारी नहीं थी। सूप भी नहीं।

मधुमेह के मरीज को भूख अचानक सताती है। मुझे खयाल आया, टिवली के सामने मैकडोनल्ड वाला जोकर देखा था। वहां पहुंचा। कोई शाकाहारी 'बर्गर' वहां नहीं था। वह केवल भारत में बेचा जाता है, क्योंकि यहां शाकाहार को नजरअंदाज कर दें तो धंधा मंदा पड़ जाएगा। बहुराष्ट्रीय रसोइयों ने हमारे यहां अपना भेस बदल लिया है: कड़ाही-पनीर पीजा, आलू-टिक्की बर्गर! जैसे शाकाहारियों ने उनकी थकी-मांदी कल्पनाशीलता को

जगा दिया हो। बहरहाल, तले हुए आलू वहां किसी कीमत पर मिल गए। उन्हें खाने की मुझे छूट नहीं। न उनके तेल-मसालों का स्वाद जमता है। पर मरता क्या न करता।

मैकडोनल्ड से कुछ आगे, सिटी हॉल वाले चौक के पास, बाल-कथाओं के जगतविख्यात लेखक हांस क्रिश्चियन एंडरसन का घर है। अहाते में उनकी प्रतिमा बनी है। आकाश की ओर देखते हुए। उनकी एक प्रतिमा न्यूयॉर्क के सेंट्रल पार्क में भी है। संसार में जाने कितनी पीढ़ियां बचपन में एंडरसन की कथाओं के अनुवाद पढ़ते हुए बड़ी हो गईं। उनकी लिखी कहानी 'द एंपरर्स न्यू क्लोद्स' ('राजा नंगा है') तो किसी लोककथा की शक्ल अख्तियार कर चुकी है। बच्चे एंडरसन की प्रतिमा की गोद में बैठकर शान से फोटो खिंचवाते हैं। इस सिलसिले में बेचारी प्रतिमा के घुटने घिसकर बदरंग हो गए हैं।

शहर में प्रतिमाएं जगह-जगह दिखाई देती हैं। लेकिन सबसे मशहूर है एंडरसन की परी-कथा पर ही बनी 'द लिटल मरमेड'। ठिकाना पूछा तो पता चला बहुत दूर है। परिवहन शहर का बहुत सुचारु है। लेकिन वहां तक न बस जाती है, न मेट्रो। चलने का मुझे खव्त है। सो चल पड़ा। शून्य से छह डिग्री नीचे बर्फीली हवाओं के थपेड़े खाते, जिनका जोर सागर तट पर दुगुना हो जाता है। हिम्मत हारते न हारते पहुंच गया। जमी बर्फ पर धीमी चाल। फिर दस्ताने सहित हाथ ओवरकोट के अंदर। कैमरा निकाल कर उंगली हिलाने की ताब तक नहीं। रास्ता दिखाने वाले निशान भी नहीं हैं। दुकानों-होटलों का रास्ता बताने के लिए मजदूर सड़क के बीच खड़े रहते हैं। हाथ में नाम के झंडे-से लिए हुए। उस कंपनी में भी हरदम।

इस हाल में 'मरमेड' की महज चार फुट ऊंची प्रतिमा तक पहुंचकर शायद हताशा का बोध ज्यादा हुआ। शहर के पुराने बंदरगाह की एक चट्टान पर स्थापित मूर्ति। सिर झुकाए विनय भाव में बैठी मत्स्य-कन्या। बगल में पानी में अब एक नई मूर्ति भी खड़ी कर दी गई है। निहायत कुरूप। पीछे बहुत दूर कारखानों की चिमनियां नजर आती हैं। अजीब-सा नजारा था।

मूर्तिकार एडवर्ड एरिकसेन 'लिटल' मरमेड को बड़े आकार में तो खैर बना नहीं सकते थे। निर्जन तट है, इसलिए और छोटी लगती है। पर उससे क्या। शहर के साथ प्रतिमा का नाम इस तरह जुड़ा है कि एंडरसन की कहानी लोगों ने चाहे न पढ़ी हो, मूर्ति जरूर देख आते हैं। जैसे मैं। पर देखकर पछताया। न देखता तो भी पछताता।

कोपेनहेगन की सबसे अहम जगह का हवाला तो आम तौर पर पर्यटकों को मिलता ही नहीं। शहर के बीचोबीच, नोरपोर्ट स्टेशन से थोड़ी ही दूर नोरब्रो (उत्तरी पुल) में, आसिस्टेंस मुक्तिधाम है। कब्रगाह क्या है, लंबा-चौड़ा बाग है। यह यकीनन खूबसूरत है, क्योंकि जरूरत से ज्यादा देखभाल नहीं होती। धूप निकली हो तो लोग यहां पिकनिक के लिए आते हैं। औंधे पड़े धूप सेंकते हैं। अगल-बगल पूर्वज सोए हैं। मौज की नींद और लंबी नींद में कितना कम फासला होता है।



खूबसूरत पगडंडियों के गिर्द पेड़ों के झुरमुटों के बीच यहां सैकड़ों कब्रें हैं। इन्हीं के बीच सोई हैं, कोपेनहेगन को मशहूर करने वाली तीन हस्तियां: एंडरसन, एक सदी पहले नोबेल पुरस्कार पाने वाले भौतिक-विज्ञानी नील्स बोर और सोरेन कीर्कगार्द। वही अस्तित्ववादी दार्शनिक जिन्होंने पहले डेनमार्क के चर्च और फिर हीगल के आदर्शवाद की धज्जियां उड़ा दी थीं। अफसोस यह कि महापुरुषों के हर समाधि-लेख पर नई पीढ़ी ने मनमौजी इबारतें- ग्राफिटी!- चस्पां कर दी हैं। लिपि तो समझ नहीं पड़ती, लेकिन फतेहपुर सीकरी के गुंबदों की इशकिया कसमों से जुदा क्या होंगी! या क्रांति के नारे हैं? कम से कम पर्यावरण बचाने के तो नहीं होंगे! आसपास कोई दीखा नहीं, वरना पूछ लेता।

सिटी सेंटर से निकला, तब रास्ते में एक बड़ा बाजार आया था। उसे स्ट्रॉयाल कहते हैं। सिटी हॉल से रॉयल डेनिश थियेटर के चौक तक लंबी सड़क है। उससे जुड़ी अनेक गलियां। दुकानें वैसी ही, जैसी सब जगह होती हैं। मुफ्त का ताप भोगने भर को उनके भीतर आया-गया। लिहाज में कहीं कोई सीडी-डीवीडी खरीद ली। इस बाजार की खासियत यह है कि इसमें वाहनों का प्रवेश निषिद्ध है। साइकिल तक का। पचास साल पहले- 1962 में- अचानक बढ़ी कारों को देखते कम-से-कम एक इलाके को पहियों वाले आवागमन से बरी रखने का खयाल शासन में किसी को आया होगा। एक नीति बन गई। उसका दुकानदारों ने विरोध किया, मगर लोगों ने स्वागत।

पैदल बाजार में भीड़ इस कदर बढ़ने लगी कि बाद में वास्तुकार और नगर-नियोजक जान गेल ने शहर के इस बड़े हिस्से को 'स्ट्रॉयाल' (चहलकदमी) में बाकायदा नियोजित कर दिया। आज इसका कुल घेरा कितना होगा, अनुमान इससे लगाइए कि पैदल-पट्टी की लंबाई एक लाख वर्ग-मीटर है। बताते हैं, गर्मियों में यहां घूमने-फिरने वालों की तादाद रोजाना ढाई लाख तक पहुंच जाती है। दुनिया में पैदल बाजार बहुत हैं। पनामा का सेंट्रल एवेन्यू मशहूर है। एक बाजार ली कार्बुजिए के बसाए चंडीगढ़ में भी है, सेक्टर 17 के प्लाजा के इर्दगिर्द। पर स्ट्रॉयाल दुनिया का सबसे बड़ा पैदल बाजार माना जाता है।

स्ट्रॉयाल में एक अजीबोगरीब घटना घटी। ऐसी कि उस पर क्या हंसें, क्या रोएं। संगीत-सिनेमा के महा-स्टोर से निकल कर आगे बढ़ते ही देखता हूं कि एक रेस्तरां के बाहर लावारिस खड़ी बच्चागाड़ी से रोने की आवाज आ रही है। पूरी तरह ढंका हुआ हिंडोला (कारगो बाइक)। आसपास कोई नहीं। पांव से कान तक ओवरकोट तक लिपटे आते-जाते लोग।

देश में ऐसा होता तो समझा जाता कि कोई नाजायज बच्चे को सड़क पर छोड़ गया। मगर इतनी ठंड में इस हिंडोले में? मैंने बच्चागाड़ी का परदा थोड़ा-सा सरका कर देखा। सुंदर-सा बच्चा रोते हुए मेरी तरफ घूर रहा था। मैं फौरन रेस्तरां के भीतर गया और एक बैरे को बताया। उसने गपशप में मशगूल एक जोड़े को फौरन खबर की। युवती फौरन उठ कर बाहर आई। बच्चे की चूसनी मुंह से छिटक गई थी। उसे मुंह में ठूंसा। हिंडोला ढंका। मुझे धन्यवाद कहा। और फौरन फिर अंदर!

बाद में पता चला कि कोपेनहेगन में यह आम बात है। बच्चागाड़ी के लिए बस-मेट्रो में अलग से जगह रखी जाती है। लेकिन रेस्तरां में जगह नहीं होती। इसलिए माता-पिता भीतर, बच्चा बाहर। एक शख्स को वहां जब यह घटना बताई तो उसने इस 'सहज प्रथा' की लंबी परंपरा पर रोशनी डाली। उसने बताया, वाशिंगटन में ठीक ऐसे ही एक वाक्य में पुलिस ने बच्चा दुकान के बाहर छोड़ने वाले दंपति को गिरफ्तार कर लिया था। बच्चे की उपेक्षा के जुर्म में। दो रोज बाद उन्हें यह साबित होने पर ही छोड़ा गया कि दंपति कोपेनहेगन का निवासी है, जहां ऐसी 'परंपरा' है और उसे अमेरिकी कानून की जानकारी नहीं है।

लौटने के बाद अखबारों में और दिलचस्प खबर पढ़ी। कोपेनहेगन में एक संवेदनशील चोर बच्चागाड़ी बच्चे सहित उठा ले गया। भूल से। आगे जाकर बच्चे की रुलाई ने उसे उसकी भूल जता दी तो चोर सीधे पुलिस को आत्मसमर्पण करने पहुंच गया। साइकिल चोरी भी कोपेनहेगन में आम है। और उसके लिए मामूली जुर्माना देना होता है।

यों तो हर जगह की बहुत यादें हमेशा साथ रहती हैं। लेकिन कोपेनहेगन की एक छाप मन में अक्सर कौंध आती है। अमीर देश है, पर रईसी का इजहार नहीं है। कहने को रानी है, पर मुल्क में समाजवादी पार्टी का राज है। सरकार ने एक बड़ा काम यह किया है कि राजधानी की रेलमपेल में भी हर कोने, हर मोड़ तक साइकिल के लिए अलग सड़कें पहुंचा दी हैं।

मुख्य सड़कों के समांतर बनी ये सड़कें लगभग आठ फुट चौड़ी होंगी। सड़कों पर तीन साइकिल सवार एक साथ गुजर सकते हैं। कार वाले साइकिल सवार के लिए अदब से रुक जाते हैं। साइकिल वाले पैदल चलने वाले के लिए। साइकिल पथ पर कई जगह अब लाल-हरी बत्तियां भी लगा दी गई हैं। बत्तियों से पहले रेलिंग लगी हैं। इन पर लिखा है- 'जनाब, यहां पांव रख कर सुस्ताएं। और शहर में साइकिल सवारी के लिए शुक्रिया।' मुख्य सड़कों के हाशिए पर चौड़े-से स्तंभ स्थापित हैं। इनमें लगा उपकरण (सेंसर) पास से गुजरने वाली साइकिलों की गणना करता है। शहर के तापमान और वक्त के साथ आप देख सकते हैं कि उस रोज और महीने में अब तक कितने साइकिल सवार वहां से गुजर चुके हैं।

वहां लोग साइकिल धीमे चलाते हैं। हड़बड़ी में नहीं हैं, इसीलिए तो साइकिल पर सवार हैं। सात-सात गियर वाली साइकिलें हैं जिन्हें चलाने के लिए ज्यादा ताकत खर्च नहीं करनी पड़ती। अंधेरा जल्दी होता है, तो हैंडिल पर टिमटिमाती लाल जोत जगाए मद्धम घंटी बजाते गुजर जाते हैं। बर्फबारी में दिक्कत होती होगी, पर साइकिलें रुकती नहीं हैं। एक रोज हल्की बर्फबारी में बस की प्रतीक्षा करते हेलमेटधारी पिता और बच्चे को अपनी-अपनी साइकिलों पर गुजरते देखना बड़ा सुखद था। मौसम या मशक्कत का कोई बोझ चेहरों पर नहीं।

एक सुविधा यह भी है कि रेलगाड़ी में साइकिल ले जाने की छूट है। इसके लिए अलग डिब्बा होता है जिसमें साइकिल टिकाने के सांचे बने होते हैं। मेट्रो में लोग साइकिल थामे हुए सफर करते हैं। हर स्टेशन पर उनके लिए

लिफ्ट मौजूद है। जिनके पास अपनी साइकिल नहीं वे वहां 'मुफ्त साइकिल योजना' का फायदा उठा सकते हैं। एक निश्चित राशि की अमानत रख दें, साइकिल ले जाएं। वापस आएँ तब पूरी राशि वापस।

एक स्थानीय खबरनवीस ने कहा, कमोबेश कोपेनहेगन के हर घर में एक 'बाइक' होगी। कोई सैंतीस फीसद लोग साइकिल पर आते-जाते हैं। पांच साल में इस यातायात को पचास फीसद करने का लक्ष्य है। तब कोपेनहेगन दुनिया का अव्वल साइकिल सवार शहर बन जाएगा।

अभी एम्सटरडेम को दुनिया में साइकिलों की राजधानी माना जाता है। कोई चालीस फीसद लोग वहां साइकिल पर आते-जाते हैं। हालांकि मेरी स्मृति में उस शहर की यह छाप नहीं है। कोपेनहेगन की झोपड़ीनुमा छतों वाली छोटी और रंगबिरंगी इमारतें देखकर एम्सटरडेम का खयाल जरूर आ सकता है। साइकिलों की भीड़ के नाम पर मेरे सामने बेजिंग के थियानानमेन चौक का अक्स उभरता है। मगर आबादी के अनुपात में तुलना करें तो शायद कोपेनहेगन बेजिंग पर भारी पड़ेगा।

साइकिल सवारी के अपने फायदे हैं। वाहनों का धुआं घटता है। सड़क के यातायात पर बोझ कम होता है, ईंधन और धन की बचत होती है और सेहत दुरुस्त रहती है। जाहिर है, इसमें सरकार से ज्यादा पर्यावरण और लोगों का भला है। मगर सुविधाएं न हों तो लोग क्या करेंगे?

हमारे यहां भी पहले बहुत साइकिलें होती थीं। अब हम उनका निर्यात ज्यादा करते हैं। कोपेनहेगन तो बहुत बड़ा शहर है। यहां चंडीगढ़ जैसे नियोजित शहर में भी देखते-देखते सब साइकिल सवार मोटरसाइकिल की सवारी करने लगे। यूरोप में साइकिल को बाइक कहते हैं, हमारे यहां मोटरसाइकिल को कहने लगे हैं। दिल्ली में, गुलामी के दौर की याद दिलाते राष्ट्रमंडल खेलों के सिलसिले में, कहीं-कहीं साइकिल पथ बना दिए गए हैं। पुराने किले के सामने ऐसे पथ की झलक देखी। चलते-चलते साइकिल लेन बस लेन से जा मिलती है!

कोपेनहेगन में सुना कि बड़े अधिकारी छोटी दूरियां साइकिल पर तय करते हैं। कुछ समय पहले तक हमारे यहां भी करते थे। ज्यादा पुरानी बात नहीं है, राजस्थान के एक मंत्री- बीकानेर के महबूब अली- साइकिल पर ही सचिवालय जाते थे। गांव-कस्बों में आज भी साइकिल का बड़ा सहारा है। दिल्ली में भी साइकिल सवार कम नहीं हैं। ज्यादातर डाक अब भी साइकिल पर बंटती है।

लेकिन हमारे यहां साइकिल मजबूरी की सवारी है। मानो साधनहीन की, जिसे जान हथेली पर रख कर बड़े वाहनों के साथ उसी सड़क पर सफर तय करना है। फिर- आगे बढ़ने के लिए- साइकिल से मोपेड, स्कूटर या मोटरसाइकिल और अंततः चौपहिये पर सवारी करनी है। चाहे मंजिल पैदल चलने की दूरी में ही क्यों न हो। उधर सरकार का नजरिया यह है कि केंद्रीय दिल्ली में जहां मंत्री-प्रधानमंत्री रहते हैं, दूर-दूर रिक्शे का प्रवेश नहीं हो

सकता। पुरानी दिल्ली के कुछ इलाकों में भी यह मुमानियत है। रिक्शे के हक में आंदोलन चला रही मेरी मित्र मधु किश्वर कहती हैं, दिल्ली पुलिस का बस चले तो वह पूरे शहर के रिक्शे उठवा दे। अधिकारी विकास के दौर में साइकिल-रिक्शे की बात करना दकियानूसी समझते हैं।

यही विडंबना है। विकसित देश बरबाद होकर फिर आबाद होने की जुगत कर रहे हैं। थोड़ा ही सही, विकास का उनका पहिया कहीं-कहीं उलटा भी घूमा है। हम अभी विकासशील हैं। पहले उनकी जगह पहुंचेंगे। फिर अपनी जगह लौटेंगे।

लौटेंगे, यह कौन जानता है!